

विश्व व्यापार के अंतर्विरोध

सुनील

विश्व व्यापार संगठन की रुकी हुई गाड़ी को चलाने की कोशिश एक बार फिर असफल हो गई। जुलाई माह में दुनिया के 30 देशों के प्रतिनिधि जेनेवा में नौ दिन तक बैठे और कुछ सहमति बनाकर दोहा वार्ताओं को बचाने की कोशिश की। लेकिन नतीजा एक बार फिर शून्य रहा।

विश्व व्यापार संगठन का जन्म गैट की उरुग्वे वार्ताओं की कोख से 1 जनवरी 1995 को हुआ था। तब से इसकी गाड़ी कई बार पटरी से उतरी है। वर्ष 1999 में सिएटल में तीसरे सम्मेलन में सदस्य देश किसी सहमति पर नहीं पहुंच सके थे। दुनिया के गरीब विकासशील देशों का असंतोष इसमें खुलकर सामने आया। फिर 2001 में दोहा के अगले सम्मेलन में व्यापार वार्ताओं का नया दौर शुरू हुआ, तो यह आश्चर्य किया गया कि इसमें विकासशील देशों के हितों व मुद्दों का खास ख्याल रखा जाएगा। इसलिए इसे 'दोहा विकास वार्ता' कहा गया। लेकिन 2003 में केनकुन में अगला सम्मेलन भी बिना किसी सहमति के समाप्त हो गया। इसके बाद 2005 में हांगकांग सम्मेलन के अंत में भी सिर्फ वार्ताओं को जारी रखने का संकल्प ही दोहराया जा सका। मतभेदों के कारण इसके बाद कोई मंत्री स्तरीय सम्मेलन भी नहीं हुआ है। दोहा वार्ताओं को 2005 तक पूरा करने का लक्ष्य रखा गया था, लेकिन अभी तक इन वार्ताओं के लिए सहमति के बुनियादी आधार भी तय नहीं हो पाए हैं। कुल मिलाकर, विश्व व्यापार संगठन भारी संकट में फंसा है और इसका भविष्य काफी धुंधला दिखाई दे रहा है। ये घटनाएं इस बात की ओर संकेत कर रही हैं कि दुनिया के देशों के हितों में कुछ बुनियादी टकराव हैं, जो मौजूदा व्यवस्था में दूर नहीं हो पा रहे हैं।

यह एक अचरज की बात हो सकती है कि औद्योगिक क्रांति और आधुनिक विकास की दो-तीन सदियों के बाद भी आज खेती ही दुनिया के विवादों और वार्ताओं के केंद्र

में है। दोहा वार्ताओं में यों तो गैर-कृषि आयात शुल्क, सेवाएं आदि भी एजेण्डा में हैं, किंतु सबसे ज्यादा मतभेद और चर्चा कृषि को लेकर ही है। इस जुलाई की जेनेवा बातचीत तो भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि सम्बंधी मतभेद से ही टूटी है। पास्कल लामी ने बताया कि कुल 20 मुद्दे चिन्हित किए गए थे, जिनमें से 18 पर सहमति बन गई थी, 19वें मुद्दे पर बातचीत टूट गई। यह मुद्दा था विशेष सुरक्षा प्रावधान का, जिसमें विकासशील देशों को उन कृषि वस्तुओं पर आयात शुल्क बढ़ाने का अधिकार होगा, जिनके अत्यधिक आयात से स्थानीय किसान प्रभावित हो रहे हैं। मतभेद इस बात पर हुआ कि अत्यधिक आयात किसे माना जाए और कितना आयात शुल्क बढ़ाने की छूट दी जाए। भारत आयात की जिस मात्रा पर इस प्रावधान को लागू करना चाहता है, वह अमरीका को स्वीकार नहीं है। यदि इस बिंदु पर भारत व अमरीका के बीच सहमति हो जाती है तो दोहा वार्ताओं का गतिरोध दूर हो सकता है।

गौरतलब बात यह है कि सामान्य परिस्थिति में सरकारों को आयात शुल्क बढ़ाने की आज़ादी नहीं होगी। यही नहीं, प्रस्तावित समझौते में हर देश को अपनी कृषि एवं गैर-कृषि वस्तुओं पर आयात शुल्क घटाना है तथा अपने बाजार को विदेशी वस्तुओं के लिए और ज्यादा खोलते जाना है। वस्तुओं के आयात की मात्रा पर प्रतिबंध लगाने का सरकार का अधिकार तो विश्व व्यापार संगठन ने पहले ही खत्म कर दिया है। (भारत में खाद्य तेल व अन्य कई वस्तुओं के आयात की बाढ़ इसी कारण से आई है।) मात्रात्मक प्रतिबंध की जगह सरकार आयात शुल्क लगा सकती है एवं बढ़ा सकती है, लेकिन उसकी भी सीमाएं विश्व व्यापार संगठन ने तय कर दी हैं। अब दोहा वार्ताओं के तहत ये अधिकतम सीमाएं तथा मौजूदा आयात शुल्कों को कम करने के लक्ष्य तय किए जा रहे

हैं। विश्व व्यापार संगठन द्वारा हर देश की एक-एक वस्तु के आयात शुल्क की सीमा तय कर दी जाती है। सरकारों के अधिकार, आज़ादी और विकल्पों को कम करते जाना तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों की आज़ादी को बढ़ाते जाना विश्व व्यापार संगठन का मूल मंत्र है।

मात्रात्मक प्रतिबंधों को खत्म करके और आयात शुल्कों की दीवारों को कम करके, सरकारों के अधिकारों में कटौती करके जो मुक्त बाज़ार बनाया जा रहा है, वह दुनिया के गरीब देशों के उत्पादकों के लिए विनाशकारी साबित हो रहा है। खास तौर पर खेती में अमीर देश खुद अपने घोषित सिद्धांतों के खिलाफ आज भी अपनी खेती और उसकी उपज के निर्यात पर भारी अनुदान दे रहे हैं। इन विशाल अनुदानों के बल पर पूरी दुनिया के कृषि उपज बाज़ार में उन्होंने अपना वर्चस्व कायम कर रखा है। अमीर देशों के इन भारी कृषि अनुदानों का मुद्दा भारत और दूसरे गरीब देश बराबर उठाते रहे हैं। लेकिन अभी तक इनमें कमी नहीं हुई है। हाल की बातचीत में भी अमेरिका और युरोप ने चालाकी से जिस कटौती का प्रस्ताव दिया है, वह इन कृषि अनुदानों की अनुमोदित ऊपरी सीमा में कटौती का है, अनुदानों की मौजूदा वास्तविक मात्रा में कटौती का नहीं। दूसरे शब्दों में, यह हो सकता है कि इस कटौती के बाद भी मौजूदा अनुदानों में कोई कमी न हो।

विशाल कृषि अनुदान

विश्व व्यापार संगठन बनने के बाद से लेकर अब तक अमीर देशों के कुल कृषि अनुदान कम होने की बजाय बढ़े हैं। अमीर देश कृषि में करीब 300 अरब डॉलर का सालाना अनुदान दे रहे हैं। ये देश गरीब देशों को साल भर में जितनी मदद देते हैं, उससे 6 गुना ज़्यादा राशि कृषि अनुदानों पर खर्च करते हैं। यानी एक हाथ से मदद देते हैं, दूसरे हाथ से कई गुना कृषि अनुदानों के माध्यम से सस्ती कृषि उपज बेचकर इन देशों के किसानों, वहां की खेती और खाद्य स्वावलंबन को नष्ट करते जाते हैं।

जिस डंकल मसौदे से विश्व व्यापार संगठन का जन्म

हुआ था, उसमें ही कृषि समझौते में अमीर देशों ने अपने कृषि अनुदानों को कम न करने की गुंजाइश रख ली थी। अमीर देशों के कृषि अनुदान ऐसी ऊंचाइयों पर पहुंच गए हैं, जो किसी भी आर्थिक तर्क या विवेक से परे हैं। युरोप अपने शकर उत्पादकों को अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से चार गुना ज़्यादा कीमत देता है और इस तरह वहां 40 लाख टन अतिरिक्त शकर पैदा होती है। इसे फिर 100 करोड़ डॉलर के सालाना निर्यात अनुदान के साथ विश्व बाज़ार में बेचा जाता है। नतीजा यह है कि काफी मंहगे शकर उत्पादन के बावजूद युरोप दुनिया का दूसरे नंबर का शकर निर्यातक बना हुआ है और अन्य शकर उत्पादक-निर्यातक देशों को काफी नुकसान सहना पड़ता है। अनुमान है कि शकर पर युरोपीय अनुदानों के कारण ब्राज़ील को 49.4 करोड़ डॉलर, दक्षिण अफ्रीका को 15.1 करोड़ डॉलर तथा थाईलैण्ड को 6 करोड़ डॉलर का नुकसान प्रति वर्ष उठाना पड़ता है।

इसी तरह अमेरिका में जितने मूल्य का कपास पैदा होता है, लगभग उतने ही मूल्य (470 करोड़ डॉलर) का अनुदान वहां की सरकार देती है। इसे भारी अनुदान के साथ सस्ती दरों पर दुनिया के बाज़ार में बेचने से अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा कपास निर्यातक देश बन गया है और दुनिया का एक-तिहाई कपास निर्यात करता है। दूसरी ओर, इसके कारण अफ्रीका के छोटे एवं गरीब कपास-निर्यातक देशों के लाखों किसानों की हालत खराब हो गई है। अमेरिकी अनुदानों के कारण इन देशों को 30 करोड़ डॉलर का नुकसान हर साल उठाना पड़ रहा है।

इसी प्रकार से, चावल के मुख्य निर्यातक देशों थाईलैण्ड एवं वियतनाम की तुलना में अमेरिका में चावल पैदा करने की लागत दुगुनी आती है। लेकिन अनुदानों के दम पर अमेरिका दुनिया का तीसरे नंबर का चावल निर्यातक बना हुआ है। उसने 2003 में चावल के लिए जो अनुदान दिया वह कुल लागत का 72 प्रतिशत था। अमेरिका दुनिया के बाज़ार में गेहूं लागत से आधे दामों पर और मक्का लागत से 20 प्रतिशत कम दाम पर बेचता है। युरोपीय देश विशाल अनुदान देकर मक्खन व दूध पावडर

का पहाड़ खड़ा करते रहे हैं और फिर गरीब देशों में झोंकते रहे हैं। युरोपीय संघ के देश औसतन प्रत्येक गाय पालने के लिए दो डॉलर प्रतिदिन के हिसाब से अनुदान देते हैं, जबकि दुनिया की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा एक डॉलर रोज से भी कम पर गुज़ारा करता है। जापान में यह अनुदान और भी ज़्यादा है।

अर्थशास्त्र नहीं, राजनीति

कृषि अनुदानों के इस खेल से तीन बातें स्पष्ट होती हैं। एक, इन विशाल अनुदानों के कारण दुनिया का कृषि व्यापार काफी असंतुलित और अन्यायपूर्ण बना हुआ है। इसमें मामूली सुधार से बात बनने वाली नहीं है। यदि अमीर देश इन अनुदानों में थोड़ी-बहुत कटौती के लिए तैयार भी हो जाएं, और बदले में भारत जैसे तमाम गरीब देशों को अपने आयात शुल्कों में और कटौती करके अपने बाज़ारों को और ज़्यादा खोलना पड़े तो इन देशों की खेती-किसानी तबाह हो जाएगी। जो लोग विश्व व्यापार संगठन को ही सुधारने और ज़्यादा न्यायपूर्ण बनाने में विश्वास करते हैं, उन्हें इस वास्तविकता पर गौर करना चाहिए।

दो, अर्थशास्त्र के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में तुलनात्मक लाभ का सिद्धांत यहां काम नहीं करता, और शायद कहीं काम नहीं करता है। ‘मुक्त व्यापार’ की वकालत का सैद्धांतिक आधार यही सिद्धांत है, जिसका सहारा लेकर बताया जाता है कि व्यापार बढ़ने से सभी पक्षों को लाभ होगा। किंतु यहां बिल्कुल उल्टा हो रहा है। इस सिद्धांत के मुताबिक, तुलनात्मक लागतें ज़्यादा होने के कारण अमीर देशों को कृषि उत्पादन एवं निर्यात नहीं करना चाहिए या कम करना चाहिए। लेकिन वे अनुदानों के दम पर कृषि निर्यात में छापे हुए हैं। इससे यह भी पता चलता है कि अर्थशास्त्र के सिद्धांतों से दुनिया नहीं चलती है। दुनिया की आर्थिक गतिविधियों व सच्चाइयों को समझने के लिए राजनीति, कूटनीति तथा आधुनिक विकास की तह में जाना होगा।

तीन, सामाजिक एवं पर्यावरणीय पहलुओं को छोड़ दें

और शुद्ध आर्थिक नज़रिए से देखें तो भी भारत एवं दूसरे गरीब देशों के किसान अकुशल एवं पिछड़े नहीं हैं। उनकी उत्पादन लागतें अमीर देशों की आधुनिक उन्नत खेती के मुकाबले काफी कम हैं। यदि विशाल अनुदान न मिले तो अमीर देशों की खेती एक दिन भी नहीं चल पाएगी।

औद्योगिक खेती की विसंगति

दुनिया के अमीर देशों के भारी कृषि अनुदानों की कुंजी इसी में है। इसको पूरी तरह समझने के लिए आधुनिक खेती के चरित्र को समझना होगा। प्रकृति की मदद से खेती में एक दाने से 50 दाने पैदा किए जाते हैं। ऊर्जा की दृष्टि से देखें, तो पारंपरिक खेती में किसान श्रम आदि के रूप में एक कैलोरी ऊर्जा खर्च करके दस कैलोरी के बराबर की उपज प्राप्त करता है, जबकि उद्योगों व सेवाओं में ऊर्जा की शुद्ध खपत ही होती है। लेकिन आधुनिक खेती ने बहुत कुछ उद्योगों का ही चरित्र हासिल कर लिया है। इसलिए इसे ‘औद्योगिक खेती’ ठीक ही कहा गया है। अमीर देशों में यह खेती पूरी तरह मशीनीकृत हो गई है। इसमें पेट्रोल, डीज़ल, बिजली का काफी उपयोग होता है। इनके अलावा रासायनिक खाद व कीटनाशकों का उपयोग भी बड़े पैमाने पर होता है। एक अनुमान है कि अमेरिकी किसान प्रत्येक कैलोरी का उत्पादन करने में 10 कैलोरी ऊर्जा की खपत करता है।

इस बुनियादी विसंगति के कारण अमेरिकी खेती की लागतें बहुत ज़्यादा हैं। इस तरह की खेती की लागत समय के साथ बढ़ती जाती है। उतना ही उत्पादन लेने के लिए उत्तरोत्तर ज़्यादा रासायनिक खाद डालना पड़ता है, ज़्यादा व नए-नए कीटनाशकों का उपयोग करना पड़ता है, पानी के अत्यधिक उपयोग के कारण ज़मीन में पानी नीचे जाने से पानी निकालने की लागतें बढ़ जाती हैं, इत्यादि। इसलिए पर्यावरण की दृष्टि से प्रतिकूल होने के साथ-साथ यह खेती आर्थिक दृष्टि से भी महंगी और अकुशल है। बिना भारी अनुदानों के यह खेती चल ही नहीं सकती।

सच तो यह है कि दुनिया में कहीं भी खेती में आधुनिक टेक्नॉलॉजी का प्रचलन अनुदानों के बगैर नहीं हुआ है। भारत में भी हरित क्रांति अनुदानों के दम पर ही संभव हुई। अब विश्व बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में इन अनुदानों को कम किया जा रहा है, तो आधुनिक खेती में फंसे भारत के किसान संकट में पड़ गए हैं। भारत के मुकाबले अमेरिका-यूरोप की खेती इस दुष्क्रम में बहुत ज़्यादा फंसी है।

इस पूरे दुष्क्रम से निकलने की बजाय अमेरिका-यूरोप की सरकारें यदि भारी अनुदान दे रही हैं और देने पर अड़ी हैं, तो इसके मुख्य कारण राजनैतिक हैं। एक तो इन देशों का आम जीवन-स्तर कृत्रिम रूप से बहुत ऊंचा है जो पूरी दुनिया के शोषण से ही संभव होता है। यद्यपि इन देशों की कृषि में लगी आबादी बहुत कम है, मगर उस आबादी को शेष आबादी के समान जीवन स्तर देने के लिए ये अनुदान ज़रूरी हैं। मगर इन अनुदानों का असली फायदा किसानों को नहीं, कृषि एवं खाद्य व्यापार में लगी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मिलता है। खाद्यान्न का व्यापार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के धंधे का एक प्रमुख क्षेत्र है। इसीलिए कृषि को विश्व व्यापार संगठन के दायरे में लाया गया है, जबकि गैट में यह शामिल नहीं था। इन वार्ताओं में अमीर देशों के प्रतिनिधि मंडल में अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अधिकारी भी शामिल रहते हैं।

तीन, दुनिया के खाद्य व्यापार एवं खाद्य आपूर्ति पर नियंत्रण महाशक्तियों का एक साम्राज्यवादी औज़ार भी है। विशाल अनुदानों के साथ सस्ता खाद्यान्न दुनिया के बाज़ारों में डालकर गरीब देशों की खेती व खाद्य स्वावलंबन को नष्ट किया जा सकता है।

विश्व व्यापार संगठन की वार्ताओं के बार-बार टूटने के पीछे ये बुनियादी अंतर्विरोध हैं। दुनिया के अमीर देशों के साम्राज्यवादी हितों और गरीब देशों की बहुसंख्यक जनता के हितों में बुनियादी टकराव है। इन टकरावों को अक्सर झूठे सपनों, लफ्फाज़ियों व प्रलोभनों से ढकने, छुपाने व उनसे ध्यान हटाने की कोशिश होती है।

जैसे कुछ लोग यह कहते हैं कि समझौते से आयात-

शुल्कों की दीवारें गिरेगी, तो भारत जैसे देशों के निर्यात भी बढ़ेंगे। लेकिन जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि अमीर देशों के विशाल अनुदानों के कारण प्रतिस्पर्धा काफी गैर बराबर होती है और उसमें भारत जैसे देशों के छोटे-छोटे किसानों का टिकना मुश्किल है। कुछ वस्तुओं का निर्यात बढ़ सकता है, लेकिन उससे भी कुछ संपन्न किसान व कंपनियां ही लाभान्वित होंगे। कई बार सरकारें इस छोटे से अभिजात्य वर्ग के हितों को ही राष्ट्रीय हित मानकर चलती हैं।

पिछले एक वर्ष से दुनिया में जो खाद्यान्न संकट आया है और खाद्यान्न की कीमतें बढ़ी हैं, उसके मद्देनज़र कुछ लोग यह भी तर्क दे रहे हैं कि अमीर देशों का अनुदान-युक्त सस्ता अनाज तो गरीब देशों के भूखे लोगों के हित में है और इसकी ज़रूरत है। इसलिए इसका विरोध करने की बजाय स्वागत करना चाहिए और समझौता कर लेना चाहिए। लेकिन इन देशों की खाद्य सुरक्षा तो उनकी अपनी खेती और स्वावलंबन से ही हो सकती है, जबकि विश्व व्यापार संगठन की मौजूदा व्यवस्था उसी को नष्ट करने पर तुली है।

तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि विश्व व्यापार संगठन की ये वार्ताएं फेल हो गईं, तो अमीर देश द्विपक्षीय तथा क्षेत्रीय समझौता करेंगे। तब उनका दबाव और दादागिरी और ज़्यादा चलेगी। लेकिन सच तो यह है कि ये द्विपक्षीय व क्षेत्रीय समझौते तो अमीर देश जैसे भी कर रहे हैं। वर्ष 1995 में विश्व व्यापार संगठन बनने के बाद से ऐसे समझौतों की संख्या में कमी आने की बजाय वृद्धि हुई है।

दरअसल विश्व व्यापार की मौजूदा, गैर बराबर, शोषणकारी, विनाशकारी व साम्राज्यवादी व्यवस्था से पूरी तरह बाहर आना ही सही व एकमात्र विकल्प है। और इसके लिए देश की अंदरूनी नीतियों एवं व्यवस्था को भी क्रांतिकारी ढंग से बदलना होगा। आधुनिक औद्योगिक व निर्यात-आधारित खेती के चक्कर से भी बाहर आना होगा जो बुनियादी रूप से अकुशल, अवैज्ञानिक, जन विरोधी और प्रकृति विरोधी है। (स्रोत फीचर्स)